

प्रधान संपादक द हिंदुस्तान टाइम्स

द हिंदुस्तान टाइम्स की एक घोषणा ने हमारा ध्यान खींचा, जिसमें यह मंशा जताई गई थी कि इस अखबार की हरेक प्रति से होने वाली आय में से 5 पैसा भारत के गरीब बच्चों की शिक्षा पर खर्च किया जाएगा। हालांकि इससे यह साफ नहीं होता कि यह राशि किस तरह खर्च की जानी है। यह बात इसलिए भी महत्वपूर्ण है क्योंकि बच्चों की शिक्षा गाहे-बगाहे किया जाने वाला काम नहीं है। स्कूलीकरण एक ऐसा समग्र अनुभव है जो पाठ्यचर्या की बुनावट के जरिए बहुत सारे व चुनिंदा घटकों से मिलकर बना होता है, जिसमें ऐसे शैक्षिक लक्ष्यों को हासिल करने की कोशिश की जाती है, जिसे कोई भी समाज अलग-अलग वक्तों पर अपने लिए खुद तय करता है।

द हिंदुस्तान टाइम्स के 19 अप्रैल, 2012 के अंक में तस्वीरों के साथ अंग्रेजी व हिंदी की वर्णमाला दी गई थी। उसमें पाठकों से कहा गया था कि वे उन सभी पन्नों को काटकर, एक तस्वीर वाली वर्णमाला की कितनी तैयार करें और उसे किसी गरीब बच्चे को पढ़ने हेतु प्रोत्साहित करने के लिए दें। हालांकि यह कदम बड़े ही नेक इरादों के साथ उठाया गया नजर आता है लेकिन यह साफ तौर पर एक भरमाने वाली, दिशाहीन और निरर्थक-सी कोशिश है, जिससे किसी भी गरीब बच्चे का कतई भला नहीं होने वाला। हमारे पास इस बात को कहने के सामाजिक कारणों के साथ-साथ शैक्षिक कारण भी हैं। शिक्षा के अधिकार कानून ने भारत के हरेक बच्चे को यह हक दिया है कि उसे हर हाल में शिक्षा मिले। कुछ रहमदिल इंसानों द्वारा किए जाने वाले दयापूर्ण कामों से यह हासिल होने वाला नहीं है। यह समता के सिद्धांत पर टिका है, इसका मतलब होता है कि हरेक बच्चा समान गुणवत्ता वाली शिक्षा हासिल करने का हकदार है। इसे अच्छी तरह से सिर्फ संस्थानीकृत तौर-तरीकों से ही किया जाना चाहिए। हकीकत में द हिंदुस्तान टाइम्स कर यह रहा है कि वह अपने पाठकों से अपील कर रहा है कि वे गरीब बच्चों पर तरस खाएं और कुछ वक्त निकालकर इन पन्नों की कतरनों से गरीब बच्चों के लिए भाषा की पहली पाठ्यपुस्तक बनाएं। यह सिर्फ रहम करने का मामला है, जिसे कोई भी ऐसा इंसान स्वीकार नहीं कर सकता, जिसमें रती भर भी आत्म-सम्मान हो। इस मुहिम को बनाने वालों को अपने-आपसे यह सवाल जरूर पूछना चाहिए कि क्या वे अपने बच्चों के लिए भी यही करेंगे? अगर नहीं, तो यह गरीब बच्चों के लिए ठीक कैसे है? इस मुहिम को चलाने वालों के लिए यह जानना भी रोचक रहेगा कि वे इस बात का पता लगाने के लिए एक सर्वे करें कि उनके पाठकों में से कितनों ने हकीकत में इस तरस खाऊ काम को अंजाम दिया है।

समता और समानता के मुद्दों के प्रति असंवदेनशीलता दर्शाने के अलावा, भाषा सिखाने के तौर-तरीकों के लिहाज से भी इस मुहिम की बुनावट दोषपूर्ण है। सन् 2012 में भाषा के किसी भी शिक्षक द्वारा, भाषा सिखाने की पहली सामग्री के बतौर वर्णमाला की किताबों के इस्तेमाल का सुझाव नहीं दिया। आज भाषा सिखाने के तौर-तरीके उस जमाने से काफी आगे बढ़ चुके हैं, जब भाषा सिखाने के पहले कदम पर वर्णमाला का इस्तेमाल किया जाता था। अगर इस मुहिम को बनाने वालों ने राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा : 2005 और भाषा शिक्षण के फोकस समूह के पर्चे को पढ़ने की थोड़ी-सी भी जहमत उठाई होती, तो उन्हें यह अहसास हो जाता कि अब भाषा शिक्षण के तौर-तरीके काफी ज्यादा परिष्कृत हो चुके हैं। अगर दलील यह है कि भाषा शिक्षण के नवीनतम तरीकों से वंचित तबके के बच्चों को कम से कम इतना तो मिल रहा है तो फिर से यह बराबरी के संवैधानिक सिद्धांत का उल्लंघन है।

हम काफी मशक्कत के बाद 'अ से अनार' की निरर्थकता से दूर हट पाए हैं और यह देखना बहुत ही चिंताजनक है कि एक प्रमुख संचार माध्यम उर्फ मीडिया समूह बिना विचारे इसमें फिर से जान फूंकने में लगा पड़ा है।

पाठ्यपुस्तकें तो इसका सिर्फ एक हिस्सा भर हैं, भले ही वे कितनी ही अहम और सार्थक क्यों न हों। पाठ्यपुस्तकें बनाना सिर्फ काटने, चिपकाने व सिलने भर का ही काम नहीं है, बल्कि वे विषयवस्तु व बुनावट में समग्रता लिए होती हैं। एक बहुभाषीय संदर्भ में रहने वाले बच्चे के लिए भाषा की पहली किताब बनाने का काम बहुत भारी जिम्मेदारीपूर्ण चिंतन की मांग करता है और इस काम में भाषा शिक्षण के मुद्दों के लिहाज से अशिक्षितों और इस क्षेत्र में हुई हालिया शोधों से अनजान व्यक्तियों को हाथ नहीं डालना चाहिए। बच्चे के हाथों में उसकी पहली किताब एक संपूर्ण अनुभव होता है। उस पुस्तक को इस काबिल होना चाहिए कि वह बच्चे की इंद्रियानुभवों से बनने वाली समझ को प्रोत्साहित व जागृत कर सके। इसके अलावा बच्चे की शुरुआती पढ़ाई का काम अब काफी संजीदगी से लिया जाने लगा है। इस मुहिम को बनाने वालों के लिए अच्छा रहेगा कि वे 'राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्' एवं कई राज्यों द्वारा पहली और दूसरी कक्षा के लिए शुरू किए गए पढ़ने के कार्यक्रमों पर जरा एक नजर डाल लें। गरीब बच्चे एक पूरे सत्र भर चलने वाली व अच्छी तरह से बनाई गई गुणवत्तापूर्ण पाठ्यपुस्तकों और पढ़ने की सामग्री के हकदार हैं, जिसे अखबारी कागज पर नहीं, अच्छी गुणवत्ता के कागज पर छपा जाना चाहिए।

यहां तक कि अगर इन पुस्तकों को सामाजिक विविधता के नजरिए से देखें तो भी तस्वीर वाली वर्णमालाओं के पन्नों में जो छवियां इस्तेमाल की गई हैं, उसमें बच्चों की उस बहुत बड़ी आबादी को बाहर छोड़ दिया गया है, जिसका पालन पोषण एक ऊंची जाति के मर्दवादी हिंदू शास्त्रपंथी परंपरा में नहीं हुआ है।

जिस गैर-जिम्मेदाराना तरीके से यह पूरी मुहिम गढी गई है, उससे एक बार फिर से इसके पीछे लगे दिमागों के बारे में यह सवाल उठता है कि क्या वे सचमुच शैक्षिक तंत्र की मदद करने के अपने इरादों को लेकर संजीदा हैं? अगर हां, तो उन्हें इस तरह की टोटकेबाजी में की जाने वाली और बढ़ेखाते में जाने वाली फिजूलखर्ची के बजाय स्कूलीकरण के काम में लगी पेशेवर संस्थाओं को आर्थिक मदद करनी चाहिए। ◆

(द हिन्दुस्तान टाइम्स में इस घोषणा के प्रकाशित होने के बाद यह खुला खत प्रधान संपादक के नाम भेजा गया था लेकिन इसे छपा नहीं गया।)

अपूर्वानंद,

प्राध्यापक, हिन्दी साहित्य, दिल्ली विश्वविद्यालय, सदस्य,
भारतीय भाषाओं पर फोकस समूह एवं राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा : 2005।

कृष्ण कुमार,

प्रोफेसर, केन्द्रीय शिक्षा संस्थान, दिल्ली विश्वविद्यालय
एवं पूर्व निदेशक, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्।

कुमार राणा एवं प्रतीची, कोलकाता।

शबनम हाशमी, सदस्य,

मौलाना आजाद शिक्षा प्रतिष्ठान (एमएईएफ), अहवाज
का राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन (एनएलएम)।

विनोद रैना, सदस्य, राष्ट्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद् व शिक्षा का अधिकार विधेयक।

भावानुवाद : रवि कांत, प्रमोद, दिलीप